दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष सातवाँ
अंक नववाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

पौष
2478

जिज्ञासुओं को आवश्यक

सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को देशनालब्धि अवश्य होती है; और वह देशनालब्धि सम्यक्त्वरूप परिणमित हुए ऐसे साक्षात् ज्ञानी के निमित्त से ही प्राप्त होती है। मात्र शास्त्र से अथवा किसी भी मिथ्यादृष्टि के निमित्त से देशनालब्धि प्राप्त नहीं होती। जो स्वयं मिथ्यादृष्टि है ऐसे जीव को जो अपनी देशनालब्धि के निमित्तरूप से स्वीकार करे उस जीव में तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पात्रता भी नहीं होती।—यह विषय प्रत्येक जिज्ञासु को अति आवश्यक होने से इस संबंधी लेख इस अंक में दिया गया है, वह प्रत्येक जिज्ञासु को भलीभाँति समझना चाहिए।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

81

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक के लेख

1- सम्यक्त्व के निमित्त—

जिनसूत्र बहिरंग निमित्त और ज्ञानी अंतरंग निमित्त

2- श्री नियमसार की ५३ वीं गाथा का स्पष्टीकरण

3- आत्मार्थी का पहला कर्तव्य-६

नवतत्त्वों का स्वरूप: उसमें जीव-अजीव के परिणमन की स्वतंत्रता

4- शुद्धात्मा का ध्यान ही धर्म और उसकी पात्रता का वर्णन

'अवसर बारबार नहिं आवे....'

इस काल में सम्यक् समझ अत्यंत दुर्लभ है। प्रभु! तुझे अपूर्व समझने का अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, उसमें चूका तो फिर अनंत काल में मनुष्यभव और ऐसा सुयोग मिलना दुर्लभ है। अनंत बार धर्म के नाम पर कदाग्रह में, बाह्य साधनों में रुका रहा। अब परम सत्य क्या है उसकी दरकार नहीं करेगा तो फिर अनंत काल तक ठिकाना नहीं पड़ेगा। इसलिये सत्य क्या है, उसे स्वयं अंतरअनुभव से निश्चित कर,—ऐसा आचार्य भगवान कहते हैं। यहाँ अनुभव की मुख्यता है; उससे शुद्धस्वरूप का निर्णय करो। बाह्य तर्क-वितर्क का काम नहीं है।

– समयसार प्रवचन से

आत्मधर्म

पौष 2478 ★ वर्ष सातवाँ ★ अंक नववाँ

सम्यक्त्व के निमित्त

जिनसूत्र बहिरंग निमित्त और ज्ञानी अंतरंग निमित्त

श्री नियमसार शुद्धभाव अधिकार गाथा, 53 पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन
(वीर सं. 2478, कार्तिक शुक्ला 5-7)

—००—००—

सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः।।53।।

जिनसूत्र समकितहेतु छे, ने सूत्रज्ञाता पुरुष जे।
ते जाण अंतर्हेतु, दृग्मोह क्षयादिक जेमने।।53।।

अर्थ - सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है, जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुषों को (सम्यक्त्व का) अंतरंग हेतु कहा है, क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक हैं।

टीका - इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सरकारी कारण वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्षु हैं, उनको भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुत्व के कारण (सम्यक्त्व परिणाम का) अंतरंग हेतु कहा है, क्योंकि उनके दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।

अपने शुद्ध कारणपरमात्मा की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को कैसे निमित्त होते हैं, वह यहाँ बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन तो अपने आत्मस्वभाव के आश्रय से ही होता है, कहीं निमित्त के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, परन्तु ज्ञान का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है; इसलिए सम्यग्दर्शन के कैसे निमित्त होते हैं, वह भी जानना चाहिए। निज कारणपरमात्मा के

सन्मुख होकर अपूर्व सम्यक्त्व प्रगट करनेवाले जीव को, शुद्ध कारणपरमात्मा का स्वरूप बतलाने वाले जिनसूत्र, वह बाह्यनिमित्त है और उन जिनसूत्रों का आशय समझानेवाले ज्ञानी पुरुष के बिना अकेले जिनसूत्र सम्यक्त्व का निमित्त नहीं होते। ऐसा बतलाने के लिये साथ ही यह बात भी कही है कि जिनसूत्र को जाननेवाले ज्ञानी पुरुष सम्यक्त्व का अंतरंग निमित्त है। निमित्तरूप से शास्त्र की अपेक्षा ज्ञानी की मुख्यता बतलाने के लिए शास्त्र को बाह्य निमित्त कहा है और ज्ञानी को अंतरंग निमित्त कहा है। अंतरंग निमित्त भी अपने से पर है, इसलिए वह उपचार है।

वीतराग की वाणी शुद्ध कारणपरमात्मा को उपादेय बतलानेवाली है, वह जिनसूत्र है। वह जिनसूत्र सम्यग्दर्शन का बहिरंग निमित्त है। जो स्वयं अंतर्मुख होकर शुद्ध कारणपरमात्मा को उपादेयरूप से अंगीकार करे, उसे वह वाणी बाह्य निमित्त है। देखो, जिनसूत्र कैसे होते हैं, वह बात भी इसमें आ गई कि अपने शुद्ध आत्मा को ही जो उपादेय बतलाते हों, अपने शुद्ध कारणपरमात्मा के आश्रय से ही जो लाभ कहते हों, वे ही जिनसूत्र हैं और ऐसे जिनसूत्र ही सम्यक्त्व में बाह्यनिमित्त हैं। इसके अतिरिक्त जो शास्त्र पराश्रयभाव से लाभ होना कहते हों, वे वास्तव में जिनसूत्र नहीं हैं और न वे सम्यक्त्व में निमित्त हैं। शास्त्रों का तात्पर्य तो वीतरागता है और वह वीतरागता अंतर के शुद्ध आत्मा के ही आश्रय से प्रगट होती है, इसलिए ऐसे शुद्ध आत्मा का अवलम्बन लेना बतलानेवाली जिनवाणी ही सम्यक्त्व में निमित्त है।

सम्यग्दर्शन अंतरस्वभाव के अवलम्बन से ही प्रगट होता है, और जिनसूत्र भी उस स्वभाव का अवलम्बन करना ही बतलाते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त जिनसूत्र हैं और उस जिनसूत्र का कहा हुआ शुद्ध कारणपरमात्मा का स्वरूप जाननेवाले मुमुक्षु सम्यक्त्व का अंतरंग हेतु है। जिनसूत्र जैसा शुद्ध आत्मा कहना चाहते हैं, वैसे शुद्ध आत्मा को जो जाने, उसी ने वास्तव में जिनसूत्र को जाना कहा जाता है। मात्र शास्त्र के शब्दों को जाने परन्तु उसमें कहे हुए शुद्ध आत्मा को न जाने तो उस जीव ने जिनसूत्र को जान लिया – ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार जिनसूत्र के ज्ञाता ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव ही अन्य जीवों को सम्यक्त्वपरिणाम का अंतरंग हेतु है और वहाँ जिनसूत्र बहिरंग हेतु है।

यहाँ निमित्त में अंतरंग और बाह्य – ऐसे दो भेद करके समझाया है। अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को मात्र शास्त्र के शब्द ही निमित्त नहीं होते, परन्तु उस शास्त्र का आशय

बतलानेवाले सम्यग्दृष्टि जीव भी निमित्तरूप से होते ही हैं – ऐसा यहाँ बतलाया है। यद्यपि अन्य सम्यग्दृष्टि पुरुष भी वास्तव में अपने से बाह्य हैं, परन्तु उस जीव के अंतरंग अभिप्राय की पकड़ अपने को सम्यग्दर्शन का कारण है, इसलिए उपचार से उस जीव को भी सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु कहा है। शास्त्र के शब्द तो अचेतन हैं और वह सम्यग्दृष्टि जीव तो स्वयं सम्यक्त्व परिणामरूप से परिणमित है, इसलिए शास्त्र की अपेक्षा उस निमित्त की विशेषता बतलाने के लिए 'अंतरंग' शब्द का प्रयोग किया है। उसके बिना मात्र पुस्तक के निमित्त से कोई जीव अपूर्व सम्यक्त्व प्राप्त कर ले – ऐसा नहीं हो सकता। यह देशनालब्धि का अबाधित नियम है।

यहाँ तो, जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, उसे कैसा निमित्त होता है, उसकी पहिचान कराई है। अज्ञानी को पूर्व अनंतबार जो देशनालब्धि मिली, उसकी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि उपादान के बिना निमित्त किसका ?

सत् समझनेवाले जीव को सत्रूप परिणमित हुए सम्यग्दृष्टि ही निमित्त होते हैं। अज्ञानी की वाणी सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं होती, क्योंकि वह जीव स्वयं सम्यक्त्वरूप परिणमित नहीं हुआ है। ज्ञानी के तो दर्शनमोह के क्षयादिक हुए हैं, इसलिए वे सामनेवाले जीव को सम्यक्त्व परिणाम में निमित्त हो सकते हैं। इसप्रकार सम्यग्दर्शनपरिणाम में बाह्यनिमित्त वीतराग की वाणी और अंतरंग निमित्त जिन्हें दर्शनमोह का अभाव हुआ है – ऐसे जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष हैं।

ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है। परम शुद्ध आत्मतत्त्व की श्रद्धा और ज्ञान होने पर जहाँ स्व-परप्रकाशक ज्ञानसामर्थ्य विकसित हुआ, वहाँ वह ज्ञान ऐसा जानता है कि जीव को सम्यक्त्व परिणाम में निमित्तरूप से भी सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। यद्यपि सम्यक्त्व परिणाम प्रगट करनेवाले जीव को तो जिनसूत्र और ज्ञानी – यह दोनों निमित्त अपने से बाह्य ही हैं, परन्तु निमित्तरूप से उसमें बाह्य और अंतरंग – ऐसे दो भेद हैं। ज्ञानी का आत्मा अंतरंगनिमित्त है और ज्ञानी की वाणी बाह्यनिमित्त है। एक बार साक्षात् चैतन्यमूर्ति ज्ञानी की प्राप्ति हुए बिना शास्त्र के कथन का आशय क्या है, वह नहीं समझा जा सकता। शास्त्र कहीं स्वयं अपने आशय को नहीं समझाता, इसलिए वह बाह्य निमित्त है। शास्त्र का आशय तो ज्ञानी के ज्ञान में है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, उनके, अंतरंग में दर्शनमोह के क्षयादि हैं, इसलिए वे ही अंतरंग निमित्त हैं।

जिस पात्र जीव में स्वभाव का अवलम्बन लेने की योग्यता हुई है....शुद्ध कारणपरमात्मा

का अवलम्बन लेकर सम्यक्त्व प्रगट करने की तैयारी हुई है, वैसे जीव को अंतरंग-निमित्तरूप से भी जिन्हें दर्शनमोह के क्षयादिक हुए हों - ऐसे जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुष ही होते हैं और बाह्य निमित्तरूप से जिनसूत्र होता है। इसमें देशनालब्धि का यह नियम आ जाता है कि प्रथम ज्ञानी पुरुष की देशना ही निमित्तरूप से होती है, मात्र शास्त्र या चाहे जैसे पुरुष की वाणी देशनालब्धि में निमित्त नहीं होती। देशनालब्धि के लिए चैतन्यमूर्ति ज्ञानी एक बार तो साक्षात् मिलना ही चाहिए।

यह नियमसार शास्त्र महान अलौकिक है और इसकी टीका में भी अनेक अद्भुत भावों को स्पष्ट किया है। इस शुद्धभाव अधिकार की अन्तिम पाँच गाथाओं में रत्नत्रय का स्वरूप बतलाया है। अपना स्वभाव अनंत चैतन्यशक्तिसम्पन्न भगवान आत्मा कारणपरमात्मा है, उसके आश्रय से ही जो सम्यग्दर्शनादि शुद्धभाव प्रगट हों, वह मुक्ति का कारण है। अंतरंग शुद्ध कारणतत्त्व ऐसा मेरा आत्मा ही मुझे उपादेय है - ऐसी निर्विकल्प श्रद्धा, सो निश्चय सम्यक्त्व है। उस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण जिनसूत्र है। वीतराग-सर्वज्ञदेव के मुखकमल से निकली हुई और समस्त पदार्थों का स्वरूप कहने में समर्थ ऐसी वाणी, वह सम्यकत्व परिणाम का बाह्य निमित्त है। परन्तु वह वाणी किसके पास से श्रवण की होना चाहिए ? ज्ञानी के पास से ही वह वाणी श्रवण की होना चाहिए, यह बतलाने के लिए यहाँ अंतरंग निमित्त की मुख्य बात रखी है कि जो मुमुक्षु हैं, ऐसे धर्मी जीव भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतु होने के कारण सम्यक्त्व के अंतरंग निमित्त हैं, क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। शास्त्र की अपेक्षा धर्मी जीव का आत्मा मुख्य निमित्त है, यह बतलाने के लिए यहाँ उन्हें अंतरंग हेतु कहा है। सम्यग्दर्शन में धर्मी जीव की वाणी बाह्य निमित्तकारण है और सम्यग्दर्शनादिरूप परिणमित उनका आत्मा, सो अंतरंग निमित्तकारण है।

शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि से अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाले जीव को मात्र वीतराग की वाणी ही निमित्त नहीं होती, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञानादिरूप परिणमित धर्मी जीव भी निमित्त रूप से होता ही है, इसलिए निमित्तरूप से वह अंतरंग हेतु है। परन्तु इस आत्मा की अपेक्षा से तो वह भी बाह्य कारण ही है। वाणी की अपेक्षा आत्मा पर अधिक जोर देने के लिए उन्हें अंतरंग हेतु कहा है। सम्यक्त्व का यथार्थ (परमार्थ) अंतरंग कारण तो अपना शुद्ध कारणपरमात्मा ही है। उसकी अपेक्षा तो ज्ञानी और वाणी - दोनों बाह्य हेतु हैं। सम्यक्त्व के परमार्थकारण का पहले खूब वर्णन किया है, इस समय तो उसके निमित्त की बात चल रही है, निमित्त में अंतरंग और बाह्य - ऐसे दो प्रकार कहकर यहाँ ज्ञानी के आत्मा को मुख्य हेतुरूप बतलाया है।

यहाँ अंतरंग हेतुरूप से 'मुमुक्षुओं' को लिया है, क्योंकि इस समय कहनेवाले के रूप में साक्षात् केवलीभगवान यहाँ नहीं हैं, वीतराग की वाणी इस समय तो मुमुक्षु अर्थात् चौथे-पाँचवें-छठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान धर्मात्माओं के पास से मिलती है, इसलिए उपचार से उन मुमुक्षुओं को अंतरंग हेतु कहा है। उन मुमुक्षुओं के अपने अंतर में दर्शनमोह के क्षयादि वर्त रहे हैं, इसलिए वे सम्यक्त्व का अंतर हेतु हैं। जिसके दर्शनमोह दूर न हुआ हो, ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव सम्यक्त्व का निमित्त नहीं होता।

उपस्थित ज्ञानी भी उस आत्मा से बाह्य हैं, इसलिए वे उपचार से हेतु हैं और वाणी की अपेक्षा उनके आत्मा का अभिप्राय मुख्य निमित्त है - ऐसा बतलाने के लिए उन्हें अंतरंग हेतु कहा है। धर्मी जीव का अंतर-अभिपाय क्या है, वह समझ कर स्वयं अपने में वैसा अभिप्राय प्रगट करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करे, उसमें ज्ञानी अंतरंग निमित्तकारण हैं और वाणी बाह्य कारण हैं। यह दोनों कारण व्यवहार से ही हैं। निश्चय कारण तो अपना शुद्ध कारणपरमात्मा ही है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उस समय कैसा निमित्त होता है, वह यहाँ बतलाया है।

कोई जीव सम्यक्त्व में मात्र बाह्य निमित्त को (शास्त्र को) ही स्वीकार करे और अंतरंग निमित्त रूप से ज्ञानी को स्वीकार न करे तो उसने वास्तव में सम्यक्त्व को ही नहीं जाना है। सम्यक्त्वरूप परिणमित होकर जिन्होंने दर्शनमोह के क्षयादिक किये हैं - ऐसे सम्यग्दृष्टि को ही सम्यक्त्व के निमित्तरूप से स्वीकार न करके, जो जीव मात्र शास्त्र से या किसी भी मिथ्यादृष्टि के निमित्त से भी सम्यग्दर्शन का होना माने, उसे तो सम्यक्त्व के सच्चे निमित्त का भी भान नहीं है। इस गाथा में सम्यक्त्व के अंतरंग और बाह्य - दोनों निमित्तों का यथार्थ स्वरूप बतलाया है।

जयवंत वर्ते वह परम कल्याणकारी सम्यक्त्व
और उसके अंतर-बाह्य निमित्त

श्री नियमसार की 53वीं गाथा का स्पष्टीकरण

श्री नियमसार शास्त्र की रचना आचार्य-शिरोमणि भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने की है और अध्यात्ममत्त महामुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने उस पर संस्कृत टीका रची है। यहाँ (सोनगढ़) से श्री नियमसार का गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमें 53वीं गाथा का जो अर्थ किया गया है, उस संबंध में एक भाई ने शंका व्यक्त की है और उस अर्थ को विपरीत बतलाया है। वस्तुतः तो प्रस्तुत अर्थ ही न्यायसंगत है और टीका के साथ उसका बराबर मेल बैठता है, तथापि उसमें शंका उपस्थित की है। इसलिए निम्न प्रकार स्पष्टीकरण करना उचित समझता हूँ।

मूल गाथा, उसकी संस्कृत छाया और संस्कृत टीका निम्न प्रकार है –

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।53।।

सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः।
अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः।।53।।

अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गत-समस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति। ये मुमुक्षुवः तेप्युचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतव इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षययप्रभृतेः सकाशादिति।

गाथा और टीका का अनुवाद निम्नानुसार किया गया है –

(सम्यक्त्वस्य निमित्तं) सम्यक्त्व का निमित्त (जिनसूत्रं) जिनसूत्र है, (तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः) जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुषों को (अन्तर्हेतवः) सम्यक्त्व के अंतरंग हेतु (भणिताः) कहा है, (दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः) क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक हैं।

इस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है। जो मुमुक्ष हैं, उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुत्व के कारण (सम्यक्त्व परिणाम का) अंतरंग हेतु कहा है, क्योंकि उनके दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।

टीकाकार मुनिवर के अभिप्राय में मूल गाथा का अर्थ क्या है, वह गाथा और टीका की तुलना करके देखें – 'सम्यक्त्वस्य निमित्तं जिनसूत्रं' इतना जो गाथा का भाग है, उसकी टीका 'अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गतसमस्तवस्तु-प्रतिपादन-समर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानमिति' – इसप्रकार है, इसलिए टीका के अर्थ के साथ तुलना करने पर निःसंदेहरूप से स्पष्ट होता है कि गाथा के उस भाग का अर्थ 'सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है' – ऐसा ही हो सकता है। 'तस्य ज्ञायकाः पुरुषाः अन्तर्हेतवो भणिताः दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृतेः' इतना जो गाथा का भाग है, उसकी टीका 'ये मुमुक्षवः तेप्युचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंग हेतवः इत्युक्ताः दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति' इसप्रकार है, इसलिए गाथा के इस भाग का अर्थ ऐसा ही हो सकता है कि 'जिनसूत्र के ज्ञाता पुरुषों को (सम्यक्त्व का) अंतरंग हेतु कहा है, क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक हैं।' इसके अतिरिक्त दूसरा कोई अर्थ टीका के साथ संगत ही नहीं है।

गाथा का विस्तृत रूप सो टीका और टीका का संक्षिप्त रूप सो गाथा। गाथा में संक्षेप से समाये हुए सत्व को विकसित किया जाये तो टीका बनती है और टीका के विस्तार को संकुचित बनाकर संक्षिप्त किया जाये तो गाथा बनती है। यह कसौटी 53वीं गाथा पर लगायें अर्थात् उसकी गाथा को (गाथा के अर्थ को) विस्तृत करें तो श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कृत टीका बनती है और श्री पद्मप्रभदेव की टीका को संक्षिप्त कर दें तो वह मूल गाथारूप (गाथा के अर्थरूप) बनी रहती है। इसप्रकार सिद्ध होता है कि गाथा का जो अर्थ किया गया है, वही अर्थ यथार्थ है और टीकाकार महामुनिवर ने उसी अर्थ को कुंदकुंद भगवान के हृदय में भरा हुआ परख कर टीकारूप से विकसित किया है, दूसरा कोई अर्थ घटित नहीं होता।

यहाँ ऐसा कहा है कि किसी जीव के सम्यकत्वपरिणाम में जिनसूत्र 'बाह्य सहकारी कारण' है और अन्य मुमुक्षु* (सम्यग्दृष्टि, मुनि आदि) उस जीव के सम्यक्त्व परिणाम में उपचार से 'अंतरंग हेतु' है क्योंकि उन मुमुक्षुओं के (ज्ञानियों के) दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। यहाँ किसी जीव के सम्यक्त्वपरिणाम में उनसे भिन्न ऐसे अन्य ज्ञानियों को अंतरंगहेतुभूत कहा है, इसलिए

* ज्ञानियों को मुमुक्षु कहा जाता है। श्री नियमसार की टीका में अनेक स्थानों पर मुनियों को भी मुमुक्षु कहा है।

'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है और वे ज्ञानी दर्शनमोह के क्षयादि वाले होने से अर्थात् सम्यक्त्वपरिणामरूप परिणमित होने से उन्हें (भले ही उपचार से परन्तु) 'अंतरंग' हेतु कहा है। सम्यक्त्वपरिणमन रहित मात्र शास्त्रपाठी जीवों को दर्शनमोह के क्षयादि नहीं हैं, इसलिए वे (उपचार से भी) अंतरंगहेतुपने को प्राप्त नहीं हैं। जिनसूत्र को भी किसप्रकार अंतरंग हेतुपना नहीं है। इसप्रकार किसी भी जीव को सम्यक्त्वपरिणाम के अर्थ, सम्यक्भावरूप परिणत अन्य ज्ञानी पुरुष अंतरंगनिमित्त हैं – ऐसा यहाँ महामुनिवर ने प्रणीत किया है। जिनसूत्र को अंतरंग निमित्त नहीं कहा है और मात्र शास्त्रपाठी मिथ्यादृष्टि जीवों की तो यहाँ गणना ही नहीं की है।

अध्यात्ममत्त योगीन्द्र ने ऐसी स्पष्ट बात कही है, तथापि जिन्हें सम्यक्भावरूप परिणमित हुए ज्ञानी पुरुषों का (उपचार से) अंतरंगहेतुपना भासित न होता हो और जिनसूत्र का, शास्त्रपाठी मिथ्यादृष्टियों का तथा सम्यक्त्वभावरूप परिणमित हुए ज्ञानी पुरुषों का तीनों का समानपना ही भासित होता हो तो उन्हें मध्यस्थता पूर्वक पुनः पुनः विचार करना योग्य है और महामुनिवरों द्वारा निरूपित ज्ञानी पुरुषों का अंतरंग–निमित्तपना हृदय में बिठाने योग्य है।

महात्माओं के जिस ज्ञानी में ज्ञानी पुरुषों में सम्यक्त्व का अंतरंगनिमित्तपना स्पष्ट भासित हुआ है, उस ज्ञान को अनंतशः वंदन हों।

– हिम्मतलाल जेठालाल शाह (नियमसार के अनुवादक) सोनगढ (काठियावाड़)

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य-6

नवतत्त्वों का स्वरूप :
उसमें
जीव-अजीव के परिणमन की स्वतंत्रता

(वीर सं. 2476, भाद्रपद शुक्ला 3 गुरुवार)

यह धर्म की बात चल रही है। सबसे पहला धर्म सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे होता है, उसकी बात इस तेरहवीं गाथा में है। जिसे आत्मा का धर्म करना है, उसे प्रथम नवतत्त्वों का पृथक्-पृथक् ज्ञान करना चाहिए। ये नवतत्त्व पर्यायार्थिकनय का विषय हैं, त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में वे नव प्रकार के भेद नहीं हैं, इसलिए स्वभाव के अनुभव के आनंद के समय तो नव तत्त्वों का लक्ष छूट जाता है। परन्तु प्रथम जो नवतत्त्वों को न समझे, उसे एक अभेद आत्मा की श्रद्धा और अनुभव नहीं हो सकता।

नवतत्त्वों को व्यवहार से यथावत् जानकर उन नव में से एक अभेद चैतन्यतत्त्व की अंतरदृष्टि एवं प्रतीति शुद्धनय से करना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है, और यही सच्चे धर्म का प्रारम्भ है। यह बात समझे बिना अज्ञानी जीव बाह्य क्रियाकाण्ड के लक्ष से राग की मंदता करके पुण्यबंध करता है और चार गतियों में परिभ्रमण करता है, किन्तु आत्मा का कल्याण क्या है, वह बात नहीं सूझती और न उसे धर्म होता है।

आत्मा त्रिकाली चैतन्यवस्तु है, वह जीव है, और शरीरादि अचेतन वस्तु हैं, वह अजीव है। जीवतत्त्व तो त्रिकाल चैतन्यमय है, उसकी अवस्था में अजीव के लक्ष से विकार होता है, वह वास्तव में जीवतत्त्व नहीं है। तथापि उसकी अवस्था में पुण्य-पाप का विकार होने की योग्यता जीव की अपनी है। दया, पूजादिभाव शुभराग हैं, पुण्य है, उस विकाररूप होने की योग्यता जीव की अवस्था में है और उसके निमित्तरूप अजीव परमाणुओं में भी पुण्य कर्मरूप होने की योग्यता

स्वतंत्र है। पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उनमें जीव अपनी योग्यतानुसार वैसे परिणामरूप परिणमित होता है। पुण्य के असंख्यात प्रकारों में से दया के भाव के समय दया का ही भाव होता है, दूसरा भाव उस समय नहीं होता, ब्रह्मचर्य के भाव के समय ब्रह्मचर्य का ही भाव होता है, किन्तु उस समय दान का भाव नहीं होता, ऐसा क्यों ? क्योंकि उस-उस समय उस परिणाम की वैसी ही योग्यता है, इसलिए उस समय उसीप्रकार का भाव होता है, दूसरा भाव नहीं होता। अपनी एक पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय का भाव नहीं होता, तब फिर निमित्त से आत्मा के भाव हों, यह बात ही कहाँ रही ? पुण्य की भांति हिंसा, कुटिलता आदि पापपरिणाम हों, उनमें भी उस-उस क्षण की, उस जीव की अवस्था में वैसी ही योग्यता है। इसलिए जीव विकारी होने योग्य है और पुद्गलकर्म उसमें निमित्त है, इसलिए उसे विकार का कर्ता कहा जाता है। जीव और अजीव दोनों पदार्थों की अवस्था अपनी-अपनी स्वतंत्र योग्यता से ही होती है, कोई एक-दूसरे के कर्ता नहीं हैं, किन्तु पुण्य-पाप आदि जीव की विकारी पर्याये हैं, इसलिए उनमें निमित्त का भी ज्ञान कराते हैं। अकेले जीवतत्त्व में अपनी ही अपेक्षा से सात भेद नहीं पड़ते। एक तत्त्व में सात अवस्था के प्रकार पड़ने से उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है। आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप होने में जीव की योग्यता है और उसमें अजीव निमित्त है, उस निमित्त को भी पुण्य-पाप कहा जाता है।

पाँचवाँ आस्रवतत्त्व है, उस आस्रवतत्त्व में भी असंख्य प्रकार हैं। उस आस्रवरूप होने की जीव की योग्यता है। यहाँ योग्यता कहकर आचार्यदेव ने एक-एक समय के परिणाम की स्वतंत्रता बतलाई है। प्रत्येक समय का स्वतंत्र भाव कैसा है, उसका जो निर्णय न करे, उसमें त्रिकाल स्वयंसिद्ध स्वतंत्र वस्तु की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का सामर्थ्य नहीं हो सकता।

जीव की अवस्था में जो आस्रवभाव होता है, वह जीव आस्रव है, और उसमें निमित्तरूप अजीव कर्म है, वह अजीव आस्रव है। यदि विकारी आस्रव को ही जीवतत्त्व मान ले तो वह जीव विकार में ही रुक जायेगा और उसे धर्म नहीं होगा और अवस्था में वह विकार अपने अपराध से होता है - ऐसा यदि न माने तो उस विकार को दूर करने का प्रसंग कैसे आयेगा ? जीव की अवस्था में जैसे परिणाम की योग्यता हो, वैसे-वैसे आस्रवादि भाव होते हैं, ऐसा आचार्यदेव ने कहा है, इसलिए शरीरादि बाह्य क्रिया से आस्रव होता है - यह बात उड़ा दी है। जीव-अजीव की पर्यायों की इतनी स्वतंत्रता स्वीकार करे, तब नवतत्त्व को व्यवहार से स्वीकार किया कहा जाता है।

जीव के जिन विकारी भावों के निमित्त से जड़कर्मों का आस्रव हो, उस भाव को आस्रव कहते हैं, वह जीव आस्रव है। एक समयपर्यंत का आस्रव जीव की योग्यता से होता है – ऐसा जिसने निश्चित किया, उसमें उस समय कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि गुण की वैसी ही योग्यता है – ऐसा भी आ जाता है। ज्ञान की वैसी ही जानने की योग्यता है, चारित्र में वैसे ही परिणमन की योग्यता है। इसलिए परसन्मुख देखना नहीं रहता, किन्तु अपनी योग्यता के सन्मुख ही देखना रहा। और यदि एक-एक की स्वतंत्रता निश्चित करे तो पर के आश्रय की मिथ्याबुद्धि छूट जाये और एक एक समय की पर्याय की योग्यता जितना मेरा सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है – ऐसा निश्चित करके एक समय की पर्याय का आश्रय छोड़कर त्रिकाली स्वभाव की ओर उन्मुख हुए बिना न रहे। 'पर्याय का आश्रय छोड़ना' ऐसा समझाने के लिए कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो अखंड द्रव्य की ओर उन्मुख होने से पर्याय का आश्रय रहता ही नहीं। 'मैं पर्याय का आश्रय छोड़ूँ' – ऐसे लक्ष से पर्याय का आश्रय नहीं छूटता।

नवतत्त्वों की श्रद्धा बिना सीधी आत्मा की श्रद्धा नहीं होती और नवतत्त्वों की श्रद्धा करे तो उतने से कहीं सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता।

जीव की पर्याय और अजीव की पर्याय – वह दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जीव के विकार के कारण जड़कर्म में आस्रवदशा होती है – ऐसा नहीं है, किन्तु उस अजीव में वैसी योग्यता है। अजीव कर्म के कारण आत्मा को विकार होता है – ऐसा भी नहीं है, वहाँ जीव की अपनी वर्तमान योग्यता है। प्रतिसमय कर्म के जो रजकण आते हैं, वे विकार के प्रमाण में ही आते हैं – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने पर भी विकार के कारण वे रजकण नहीं आते। दोनों का वैसा स्वभाव है। जिसप्रकार तराजू के एक पलड़े में सेर रखा जाये और सामनेवाले पलड़े में बराबर एक सेर वजनवाली वस्तु आये तो तराजू बराबर हो जाती है, ऐसा ही उसका स्वभाव है, उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। उसीप्रकार जड़कर्म को कहीं खबर नहीं है कि इस जीव ने इतना विकार किया, इसलिए इसके पास जाना चाहिए, किन्तु उसकी अपनी योग्यता से ही वह कर्मरूप परिणमित हो जाता है। विकार के प्रमाण में ही कर्म आते हैं – ऐसा उसका स्वभाव है। इसप्रकार जानकर, आस्रवरहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करना, वह प्रयोजन है। यह जानकर भी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा किए बिना कभी धर्म नहीं होता।

छठवाँ संवरतत्त्व है। संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा। वह संवर किन्हीं देव-गुरु-शास्त्र से या बाह्य क्रिया से नहीं होता, किन्तु जीव की अपनी योग्यता से होता है। संवर जीवद्रव्य के आश्रय से होता है। किन्तु यहाँ संवरतत्त्व किसप्रकार प्रगट होता है - यह बात नहीं बतलाना है, यहाँ तो मात्र संवरतत्त्व है, इतना ही सिद्ध करना है। संवर कैसे प्रगट होता है, यह बात फिर बतलायेंगे। जड़ कर्म दूर हों तो सम्यग्दर्शनादि हों - ऐसी परतंत्रता नहीं है, सम्यग्दर्शनादि होने की योग्यता जीव की अपनी है। अंतरस्वभाव में एकता होने से जो संवर-निर्जरा के शुद्ध अंश प्रगट होते हैं, वे तो अभेद आत्मा में एकमेक हो जाते हैं, किन्तु जब नवतत्त्व के भेद से विचार करे, तब जीव की पर्याय की योग्यता है - ऐसा कहते हैं, उसमें द्रव्य-पर्याय का भेद करके कथन है। नवतत्त्वों के भेद करके संवर पर्याय को लक्ष में लेने से कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है, अकेले अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वे भेद पड़ते नहीं हैं, संवर की निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह अभेद में ही मिल जाती है।

जीव में संवर के समय कर्म में उपशम, क्षयोपशम या क्षय की ही योग्यता उसके कारण होती है, वह अजीव-संवर है। जीव में विकार के समय कर्म में उदय की योग्यता होती है, और जीव में संवर के समय कर्म में उपशम आदि की योग्यता होती है - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। अकेले जीवतत्त्व को ही लक्ष में लें तो सात तत्त्वों के भेद नहीं पड़ते, और अकेले अजीवतत्त्व को ही लक्ष में लें तो भी सातत्त्वों के भेद नहीं पड़ते। जीव और अजीव को एक-दूसरे की अपेक्षा से अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है। जीव में सात और अजीव में भी सात भेद पड़ते हैं। उन सात तत्त्वों का लक्ष छोड़कर मात्र चैतन्यतत्त्व को ही अभेदरूप से लक्ष में लेने से उसमें सात प्रकार नहीं पड़ते और सात प्रकार के विकल्प नहीं उठते, किन्तु निर्मल पर्याय होकर अभेद में मिल जाती है।

जगत में जीव और अजीव वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा माने, उनका स्वतंत्र परिणमन माने और उनमें एक-दूसरे की अपेक्षा माने, तब नवतत्त्वों को व्यवहार से मान सकता है। किन्तु इस जगत में अकेला ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है, अथवा तो मात्र जड़ पदार्थ ही है - ऐसा माने अथवा जड़-चेतन दोनों की अवस्था स्वतंत्र न माने तो उसे नवतत्त्वों की यथार्थ मान्यता नहीं हो सकती। नवतत्त्वों को मानने में तो व्यवहारवीर्य है-शुभ विकल्प का अल्पवीर्य है और पश्चात् अनंतवीर्य चैतन्यद्रव्य की ओर ढले, तब एक शुद्ध आत्मा की प्रतीति होती है। नवतत्त्वों की प्रतीति की

अपेक्षा, अभेद चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करने में भिन्न ही प्रकार का अपार पुरुषार्थ है। किन्तु जिसमें एक पाई भी देने का सामर्थ्य नहीं है, वह अरबों रुपये कहाँ से भर सकता है ? उसीप्रकार जो कुदेवादि को मानते हैं, उनमें नवतत्त्वों की श्रद्धा की भी शक्ति नहीं है और जहाँ नवतत्त्वों की श्रद्धा की भी शक्ति नहीं है, वहाँ जीव अभेद आत्मा की श्रद्धा और अनुभव कहाँ से कर सकेगा ? और उसके बिना उसे धर्म या शांति नहीं हो सकती।

यहाँ आचार्यदेव शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव कराने के लक्ष से प्रथम तो नवतत्त्वों को बतलाते हैं। उनमें से छठवें संवरतत्त्व की व्याख्या चल रही है। जीव और अजीव को ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है कि जीव की अवस्था में जब निर्मल सम्यग्दर्शनादि भाव प्रगट होने से अशुद्धता रुक जाये, तब अजीव परमाणुओं में भी कर्मरूप परिणमन नहीं होता, इसे संवर कहते हैं। जीव में संवररूप होने की योग्यता है और अजीव परमाणु उसमें निमित्त होने से उन्हें संवर करनेवाला कहा जाता है।

जीव के निर्मल भावों का निमित्त पाकर आनेवाले कर्म के परमाणु रुक जाते हैं, उसे संवर कहा जाता है।

प्रश्न - कौनसे आनेवाले परमाणु रुक गये ?

उत्तर - कहीं अमुक परमाणु आनेवाले थे और वे रुक गये - ऐसा नहीं है। वे परमाणु आना ही नहीं थे, इसलिए नहीं आये। परमाणुओं में कर्मरूप परिणमन होना था, किन्तु जीव में शुद्धभाव प्रगट होने के कारण वह परिणमन रुक गया - ऐसा नहीं है। उन परमाणुओं में भी उस समय कर्मरूप होने की योग्यता ही नहीं थी। शास्त्रों में भी तो अनेक प्रकार की शैलियों से कथन आता है, किन्तु वस्तुस्वरूप क्या है, उसे लक्ष में रखकर उसका आशय समझना चाहिए। पहले विकार के समय कर्मपरमाणु आते थे और अब संवरभाव प्रगट हुआ, इसलिए कर्म परमाणु नहीं आते, यह बतलाने के लिए उसे संवर कहा है।

संवर होने से जो कर्म आनेवाले थे, वे रुक गये - ऐसा नहीं है। किन्तु उस समय उनकी वैसी ही (न आने की) योग्यता थी। जीव-अजीव दोनों का ऐसा सहज मेल है। जहाँ आत्मा में धर्म की योग्यता और संवरभाव प्रगट हुआ, वहाँ उसके कर्म आना ही नहीं होते, पुद्गल में उस समय वैसा

परिणमन होता ही नहीं, इसलिए आने योग्य नहीं थे, उन परमाणुओं को संवर में निमित्त कहा, अर्थात् पुद्गल में कर्मरूप परिणमन के अभाव को संवर में निमित्त कहा।

अहो, प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की स्वतंत्रता जाने बिना स्वतत्त्व की रुचि करके स्वभाव की ओर कैसे ढले ? नवतत्त्व के ज्ञान में प्रत्येक द्रव्य-पर्याय की स्वतंत्रता का ज्ञान तथा देव-गुरु-शास्त्र का ज्ञान भी आ जाता है।

सातवाँ निर्जरातत्त्व है। आत्मा का भान होने से अशुद्धता का नाश होता जाये और शुद्धता की वृद्धि हो, उसका नाम निर्जरा है, वह जीव की अवस्था की योग्यता है; किसी बाह्य क्रिया से वह योग्यता नहीं हुई है। जीव में निर्जराभाव प्रगट हो, उस समय कर्म खिर जाते हैं, वह अजीव निर्जरा है, उसमें अजीव की योग्यता है। जीव और अजीव दोनों में अपनी-अपनी निर्जरा की योग्यता है। आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता द्वारा चैतन्य की शुद्धता होने से अशुद्धता दूर हुई, वह जीव की अपनी योग्यता है, और उस समय निमित्तरूप कर्म उनके अपने कारण स्वयं दूर हो गये हैं। आत्मा ने कर्मों का नाश किया - ऐसा कहना तो मात्र निमित्तकथन है, वास्तव में वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। 'णमो अरिहंताणं' के अर्थ में भी अज्ञानियों को विरोध हो सकता है। अरिहंत अर्थात् कर्मरूपी शत्रु का नाश करनेवाले, इसलिए भगवान के आत्मा ने जड़कर्मों का नाश किया - ऐसा अज्ञानी यथार्थरूप से मान लेगा, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि नहीं, वास्तव में ऐसा नहीं है। जड़कर्म आत्मा के शत्रु हैं और भगवान ने कर्मों का नाश किया - यह कथन तो निमित्त से है। कहीं जड़ कर्म आत्मा के शत्रु नहीं हैं और आत्मा जड़ कर्मों का स्वामी नहीं है कि वह उन्हें दूर करे। जीव अज्ञानभाव से स्वयं अपना शत्रु था, तब निमित्त कर्मों को उपचार से शत्रु कहा और जीव ने शुद्धता प्रगट करके अशुद्धता को दूर किया, वहाँ निमित्तरूप कर्म भी स्वयं दूर हो गये, इसलिए आत्मा ने कर्मों को दूर किया - ऐसा उपचार से कहा जाता है। इसप्रकार जीव-अजीव दोनों का पृथक्त्व रख कर शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिए।

अरिहंत भगवान भाषावर्गणा को ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीवों की योग्यतानुसार वह भाषा छोड़ते हैं, इसप्रकार जो भगवान को अजीव का कर्ता मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, उन्होंने जीव को अजीव का स्वामी माना है, वस्तु की स्वतंत्रता की उन्हें खबर नहीं है और न केवली के स्वरूप की खबर है। केवली को वाणी का कर्ता मानकर वे केवली भगवान का अवर्णवाद करते हैं।

वीतरागदेव क्या वस्तुस्वरूप कहते हैं, उसे समझे बिना अनेकों का मनुष्यभव व्यर्थ चला जाता है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव के स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिकपने की श्रद्धा करना, वह तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाती है, परमार्थश्रद्धा तो उससे पृथक् है। जितने प्रमाण में जीव शुद्धता करे और अशुद्धता दूर हो, उतने ही प्रमाण में कर्म खिर जाते हैं, तथापि दोनों का परिणमन स्वतंत्र है। निमित्त-नैमित्तिक संबंध को लेकर पर्याय में वैसा मेल हो जाता है।

आठवाँ बंधतत्त्व है। विकारभाव में जीव रुके, उसका नाम बंधन है। बंधने योग्य जीव की अवस्था है और उसमें निमित्तरूप जड़ कर्म हैं, उन्हें बंधनकर्ता कहा जाता है। किन्तु कर्म ने जीव को बंधन कराया, ऐसा नहीं है। योग्यता तो जीव की अवस्था की है। आत्मा में बंधन की योग्यता हुई, इसलिए कर्म को बँधना पड़ा – ऐसा नहीं है और कर्म के कारण जीव बँधा – ऐसा भी नहीं है। जिसने स्वभाव के एकत्व की श्रद्धा की, उसे पर्याय की योग्यता का यथार्थ ज्ञान होता है। मात्र नवतत्त्व को जाने, किन्तु अंतर में स्वभाव की एकता की ओर न ढले तो यथार्थ ज्ञान नहीं होगा और न सम्यग्दर्शन का लाभ होगा।

जिसप्रकार माता-पिता को हंसता देखकर कोई बालक भी हंसने लगे, किन्तु किसलिए हंसता है, उसकी उसे खबर नहीं है; उसीप्रकार ज्ञानी आत्मा के सत्स्वभाव की अपूर्व बात करते हैं, वहाँ उसे समझ कर, उसका स्वीकार करके जो उत्साह बतलाता है, वह आत्मा का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है। और अनेक जीव उस बात को समझे बिना उत्साह बतलाते हैं, ज्ञानी आत्मा की कोई अच्छी बात बतला रहे हैं – ऐसा समझ कर स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु उसका क्या आशय है, वह अंतर में नहीं समझते, इसलिए उन्हें आत्मा की प्रतीति का यथार्थ लाभ प्राप्त नहीं होता, मात्र पुण्य बंधकर छूट जाता है। अंतर में स्वयं तत्त्व का निर्णय करे, उसी का मूल्य है। स्वयं तत्त्व का निर्णय किये बिना 'हाँ' कहेगा तो वह हाँ स्थायी नहीं रहेगी।

प्रश्न – पर्यायदृष्टि से नवतत्त्वों को जानना, सो व्यवहार है, उससे अभेद आत्मा की श्रद्धा का तो कुछ लाभ नहीं होता, इसलिए उसमें उल्लास कैसे आये ?

उत्तर – व्यवहार का उल्लास लाने को कौन कहता है ? किन्तु जिसे अभेद आत्मा के अनुभव की रुचि है, उसे बीच में नवतत्त्व की व्यवहार श्रद्धा आ जाती है। अभेद स्वभाव के लक्ष की ओर ढलते हुए प्रथम आंगन रूप से, मिथ्या तत्त्वों की मान्यता छोड़कर सच्चे तत्त्वों का निर्णय करने में

उत्साह आये बिना नहीं रहता, किन्तु उसमें नवतत्त्वों के विकल्प की प्रधानता नहीं है, परन्तु अभेदस्वभाव का लक्ष करने की प्रधानता है। नवतत्त्वों का निर्णय भी कुतत्त्वों से छुड़ाने जितना कार्यकारी है। यदि पहले से ही अभेद चैतन्य को लक्ष में लेने का आशय हो तो बीच में आयी हुई नवतत्त्वों की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है। किन्तु जिसे पहले से ही व्यवहार के आशय की बुद्धि है, वह जीव तो व्यवहारमूढ़ है, उसे नवतत्त्वों की व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

मात्र नवतत्त्वों के निर्णय से सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु अभेद स्वरूप के अनुभव में नहीं पहुँच सका, वहाँ बीच में अभेद के लक्ष से नवतत्त्वों का निर्णय आये बिना नहीं रहता। जिसप्रकार बारदान के बिना माल नहीं होता और बारदान स्वयं भी माल नहीं है, उसीप्रकार नवतत्त्वों को जाने बिना सम्यक्श्रद्धा नहीं होती और नवतत्त्व के विचार स्वयं भी सम्यक्श्रद्धा नहीं है। विकल्पों से पृथक् होकर अभेद आत्मा का अनुभव करना ही सम्यक्श्रद्धा का लक्षण है। ऐसा सम्यग्दर्शन का निश्चय-व्यवहार है। चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही आत्मार्थी जीव का प्रथम कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त जगत के किसी अन्य बाह्य कर्तव्य को आत्मार्थी जीव अपना कर्तव्य मानता ही नहीं।

अहो ! जीव का स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चैतन्य है, उसमें से तो बन्धन या अपूर्णता नहीं है। इस ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से तो जीव में बन्ध-मोक्ष आदि सात तत्त्व नहीं है किन्तु वर्तमान अवस्था में विकार से भावबंधन की योग्यता है। कर्मों ने जीव को परिभ्रमण नहीं कराया है, कर्मा तो निमित्तमात्र है। जीव अपने विकार से भटका, तब कर्मों को निमित्तरूप से भटकानेवाला कहा। बड़े-बड़े नामधारी त्यागी और विद्वान भी यह बात सुनकर उलझन में पड़ जाते हैं। जिसप्रकार पानी के संयोग का ज्ञान कराने के लिए पीतल के कलश को भी 'पानी का कलश' कहा जाता है, उसीप्रकार जीव जब अपने विपरीत भाव से परिभ्रमण करता है, तब निमित्तरूप से जड़कर्म होते हैं, वह बतलाने के लिए 'कर्मों ने जीव को परिभ्रमण कराया' - ऐसा व्यवहार का कथन है, उसके बदले अज्ञानी उस कथन को भी पकड़ बैठे। कर्म जीव को परिभ्रमण कराते हैं - ऐसी मान्यता को यहाँ तो व्यवहारश्रद्धा में भी नहीं लिया है। जीव-अजीव को पृथक्-पृथक् जाने, जीव की अवस्था में बंधतत्त्व की योग्यता है और पुद्गल में कर्मरूप होने की उसकी स्वतंत्र योग्यता है - इसप्रकार दोनों को भिन्न-भिन्न जाने, उसे यहाँ व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है और वह सम्यग्दर्शन का व्यवहार है।

अभी लोगों के सम्यग्दर्शन के व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है, वहाँ तो चारित्र के व्यवहार में उतर पड़ते हैं। अनादि से बाह्यदृष्टि है, इसलिए झट से बाह्य त्याग में उतर जाते हैं। बाह्य में कुछ त्याग दिखलाई देता हो तो हमने कुछ किया – ऐसा मानकर संतोष लेते हैं, किन्तु भीतर तो महान मिथ्यात्व का पोषण होता है, उसका कहाँ भान है ? अनंत संसारपरिभ्रमण का कारण मिथ्यात्व है, उसे टालने की बिलकुल चिंता नहीं करता। बाह्य त्याग करके अनंतबार नवमें ग्रैवेयक में जानेवाले की व्यवहारश्रद्धा तो निर्मल होती है, आजकल लोगों में वैसी नवतत्त्वों की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, तब फिर धर्म का मार्ग तो अंतर की परमार्थश्रद्धा में है, उसकी तो बात ही क्या ? आजकल यह बात अन्यत्र कहीं सुनने में नहीं आती।

जीव और अजीव की समय-समय की स्वतंत्रता स्वीकार करके सात तत्त्वों को जाने, उसे तो व्यवहारसम्यग्दर्शन हुआ है और विकल्परहित होकर अंतर में अभेदचैतन्यततत्त्व का अनुभव और प्रतीति करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है, वही धर्म है, वही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है।

(यहाँ तक नवतत्त्वों में से जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा और बंध इन आठ तत्त्वों का विवेचन हुआ, नवमें मोक्षतत्व का विवेचन बाकी है, यह आगे के व्याख्यान में आयेगा)।

शुद्धात्मा का ध्यान ही धर्म,
और
उसकी पात्रता का वर्णन

(वीर सं. 2475, ज्येष्ठ कृष्णा 13 के दिन लाठी में
श्री प्रवचनसार गाथा 194 पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन)

1. कल्याण का उपाय

जिस जीव को अपना कल्याण करना हो, उसे यह जानना चाहिए कि कल्याण किसप्रकार होता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तु के आश्रय से कल्याण नहीं होता। परवस्तुओं से आत्मा को भिन्न जाने तो पर की एकाग्रता छोड़कर आत्मा में एकाग्रता करे, वह कल्याण का उपाय है।

2. आत्मा में एकाग्रता किसे होती है ?

आत्मा के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ हैं, इन्हें जो न माने, उसे पर की रुचि छोड़कर शुद्ध आत्मा की रुचि करने का अवकाश नहीं रहता। आत्मा के अतिरिक्त शरीर, मन, वाणी आदि पदार्थ जगत में बिलकुल नहीं है – ऐसा कोई कहे तो वह बात मिथ्या है। परवस्तुएँ जैसी हैं, उन्हें वैसा ही ज्ञान में जानना चाहिए। ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, इसलिए वह पर को भी जानता है। यहाँ, एक ओर शुद्ध आत्मा और दूसरी ओर समस्त परद्रव्य – ऐसे दो विभाग करके श्री आचार्यदेव कहते हैं कि इस आत्मा को शुद्ध ही उपलब्ध करने योग्य है। शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त परवस्तुएँ आत्मा को अशुद्धता का कारण हैं। परवस्तु के लक्ष से रुकने में आत्मा को अशुद्धता की उत्पत्ति होती है, इसलिए 193वीं गाथा में आचार्यदेव ने परवस्तु को अशुद्धता का कारण कह दिया है। 'शुद्ध आत्मा ध्रुव होने से वही प्राप्त करने योग्य है, इसके अतिरिक्त परवस्तुएँ आत्मा को अशुद्धता का कारण हैं' – ऐसा जिसने निर्णय न किया हो, उसे ध्रुव शुद्ध आत्मा की श्रद्धा और एकाग्रता नहीं होती। 'परवस्तुएँ आत्मा में अशुद्धता उत्पन्न नहीं करती, किन्तु आत्मा पर के लक्ष से रुके तो परवस्तु को अशुद्धता का कारण उपचार से कहा जाता है' – ऐसा न जाने तो भी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा नहीं होती

और शुद्ध आत्मा की श्रद्धा के बिना उसमें एकाग्रतारूप ध्यान भी नहीं होता।

3. मोहग्रन्थि को छेदने का उपाय

पर से भिन्न अपने शुद्ध आत्मा को धर्मी जीव कैसा जानता है, उसका वर्णन 192 तथा 193वीं गाथाओं में किया, अब उसके साथ 194वीं गाथा की संधि करते हैं – 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है, मैं एक ज्ञान हूँ....मैं आत्मा को इसप्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ, ध्रुव, अचल, निरावलम्ब और शुद्ध मानता हूँ....शरीर, धन, सुख-दुःख, शत्रु-मित्रजन यह कोई जीव के ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो उपयोगात्मक आत्मा है। इसलिए वह शुद्ध आत्मा ही उपलब्ध करने योग्य है।' इसप्रकार पहले कहा है और वैसा जानकर जो अपने शुद्धात्मा को ध्याता है, उसकी मोहग्रन्थि नष्ट हो जाती है – ऐसा 194वीं गाथा में कहते हैं –

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोह दुग्गट्ठिं।।194।।

जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा को ध्याता है, वह साकार हो या अनाकार हो, मोह दुर्ग्रंथि को क्षय करता है।

ज्ञायकस्वभावी आत्मा ध्रुव है, इसके अतिरिक्त आत्मा को किन्हीं परवस्तुओं का संयोग ध्रुव नहीं है। आत्मा से समस्त परवस्तुएँ पृथक् हैं और आत्मा की समयवर्ती पर्याय में होनेवाली मलिनता से भी परवस्तुएँ पृथक् हैं। अज्ञानी जीव ऐसा मिथ्याभाव करता है कि पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं, उस मिथ्याभाव से भी परवस्तुएँ पृथक् ही हैं, इसलिए आत्मा को कोई परवस्तु उपादेय नहीं है, किन्तु अपना ध्रुव आत्मा ही उपादेय है – ऐसा जो जानता है, उसी को आत्मा का ध्यान होता है। यह जाने बिना आत्मा का ध्यान नहीं होता। पर से भिन्न अपना आत्मा ही उपादेय है – ऐसा निर्णय करके जो जीव परम शुद्ध आत्मा को ध्यान में ध्याता है, उसके मोह का क्षय होता है और सम्यक्त्व प्रगट होता है।

जो जीव विकार को अपना स्वरूप माने, उसे विकाररहित परमशुद्ध आत्मा का ध्यान नहीं होता। प्रथम, पर से मुझे लाभ-हानि होते हैं और पुण्य-पाप मेरा कर्तव्य है – ऐसा जिस श्रद्धा से माना था, उस श्रद्धा में शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं थी, अब उपयोगात्मक ध्रुव आत्मा ही मैं हूँ –

ऐसी पहिचान के द्वारा वह मिथ्याश्रद्धा छोड़कर जिसने अंतर में शुद्ध आत्मा की प्राप्ति की है, उसी के आत्मध्यान होता है और उसी के मोह का क्षय होता है।

4. पर में एकाग्रता से आत्मा पीड़ित होता है

आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है। परलक्ष में अटकने से उसकी अखण्डता पिलती है अर्थात् परलक्ष से रुकने में ज्ञानस्वभाव की एकता में भंग पड़कर विकार की उत्पत्ति होती है। जिसप्रकार तिल यदि पृथक्-पृथक् रहें तो अखण्ड रहते हैं और कोल्हू में जाने पर वे अखण्ड नहीं रहते, किन्तु पिलते हैं, उसीप्रकार ज्ञाताशक्ति का पिण्ड आत्मा, यदि अपने ध्रुवस्वभाव के आश्रय से अकेला रहे तो उसके ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि अखण्ड रहते हैं और पलक्ष में रुकने से उसकी अखण्डता का छेदन होता है अर्थात् वहाँ विकार की उत्पत्ति होकर ज्ञातास्वभाव उसमें पीड़ित होता है।

यहाँ श्री आचार्यदेव ने शुद्धात्मा को जानकर उसके ध्यान की बात ली है। ध्यान के चार प्रकार हैं, उनमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान अधर्मरूप हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान धर्मरूप हैं। पर में या विकार में अपनत्व मानकर वहाँ उपयोग की एकाग्रता करने से आत्मा के चैतन्यप्राण पीड़ित होते हैं, इसलिए वे आर्तध्यान और रौद्रध्यान हैं। मेरा आत्मा शुद्ध उपयोग स्वरूप है, वही मुझे ध्रुव है, इसप्रकार शुद्धात्मा को लक्ष में लेकर वहाँ एकाग्र होना, वह धर्मध्यान और शुक्लध्या है, उसमें चैतन्यप्राण अखण्ड रहते हैं।

5. शुद्धात्मा का ध्यान, वह धर्म; पर का ध्यान, वह अधर्म

आत्मा का धर्म और अधर्म - यह दोनों ध्यानस्वरूप हैं। धर्म में आत्मस्वभाव में एकाग्रतारूप स्वभाव का ध्यान है और अधर्म में पर में एकाग्रतारूप पर का ध्यान है। पर के लक्ष से भले दयादि के शुभपरिणाम में एकाग्र हो, तथापि परमार्थ से वह अधर्मध्यान ही है। धर्मध्यान में तो आत्मा के शुद्ध ध्रुवस्वभाव का ही आश्रय है। आत्मा के ध्रुवस्वभाव के आश्रय से ही कल्याण है, पर के आश्रय से कल्याण नहीं है - ऐसा निर्णय करके जो जीव अपने शुद्ध आत्मा को ध्यान में ध्याता है, उस जीव को मोह का क्षय होता है। पर में एकाग्रता से तो आत्मा को बुरे ध्यान की ही उत्पत्ति होती है और उसका फल संसार है। धर्मध्यान के दो प्रकारों में धर्मध्यान मंद है और शुक्लध्यान उग्र है, वे दोनों भले ध्यान हैं और उन्हीं में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आ जाते हैं तथा अधर्म ध्यान के दो प्रकारों में आर्तध्यान मंद है और रौद्रध्यान तीव्र है, यह दोनों बुरे ध्यान हैं और संसार के कारण हैं। आत्मा के शुद्ध स्वभाव से च्युत होकर क्षणिक विभाव को या संयोग को अपना

स्वरूप मानकर उनके आश्रय में जो रुके, उसके मोह का क्षय नहीं होता, किन्तु मोह की उत्पत्ति ही होती है। पहले परोन्मुखतावाले शुभाशुभभाव होने पर भी धर्मी जीव को उनके आश्रय की बुद्धि नहीं है, उसके निर्णय के ध्येय में तो शुद्ध ध्रुव आत्मा का ही आश्रय है, इसलिए उसे बारम्बार शुद्ध आत्मा में ही एकाग्रता की रटन बनी रहती है। विकारभाव होते हैं, तथापि जिसने उनसे भिन्न शुद्ध आत्मा का निर्णय किया है, उसे उस शुद्ध आत्मा में एकाग्रता से मोह का क्षय होता है। इसलिए पहले देहादि से अत्यंत भिन्न और क्षणिक विकार से भी भिन्न, त्रिकाल उपयोगस्वरूप ध्रुव शुद्ध आत्मा का आत्मा में निर्णय करना चाहिए। पर्याय में विकार होने पर भी ज्ञान ने उससे भिन्न चैतन्यतत्त्व को जाना है और श्रद्धा से अखण्ड शुद्धचैतन्य तत्त्व को ध्येय में लिया है, ऐसी जिसकी दशा है, उस जीव को शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति द्वारा शुद्धात्मपना होता है और उसे शुद्धात्मा का ध्यान होता है। जिसे संयोग और विकार से पार शुद्ध चैतन्यतत्त्व की प्रतीति नहीं है, वह जीव बाह्य संयोग में से कल्याण लेना चाहता है और बाह्य संयोग के या विकार के आश्रय से वह विकार मोह को नष्ट करना चाहता है, किसी वाणी में से, शास्त्र में से, भगवान की मूर्ति में से, तीर्थ में से या अंत में शुभराग में से वह धर्म लेना चाहता है, किन्तु यह सब तो परद्रव्यों का आलम्बन है और परद्रव्यों का आलम्बन तो आत्मा को अशुद्धता का ही कारण है, भगवान की वाणी का या साक्षात् भगवान का आलम्बन भी इस आत्मा को अशुद्धता का कारण है, तथापि जो जीव उससे आत्मा को लक्ष होना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अधर्मी है।

6. देव-गुरु-शास्त्र का विवेक और कल्याण का सच्चा कारण

यद्यपि जिज्ञासु का लक्ष पहले देव-गुरु-शास्त्र पर जाता है और उनकी भक्ति-बहुमान आदि का शुभराग होता है, किन्तु उनका अवलम्बन कहीं कल्याण का सच्चा कारण नहीं है, उस पर के अवलम्बन से तो राग ही होता है। कल्याण का सच्चा कारण तो अपने ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन करना ही है। जिसे ऐसी समझ नहीं है और मात्र पर के ही अवलम्बन में रुककर धर्म मानता है। उसे कभी धर्म नहीं होता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के आलम्बन से भी धर्म नहीं होता, तब फिर कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को माने, उसकी तो बात ही क्या करना ? कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को मानकर उनके आलम्बन में जो रुके हैं, उन्हें तो सदैव मिथ्यात्व का ही ध्यान होता है, वे प्रतिक्षण मिथ्यात्व का सेवन करके उसकी पुष्टि करते हैं। जो आत्मा सर्वज्ञ नहीं, किन्तु रागी है, उसे जो देवरूप से माने, उस जीव ने अपने आत्मा को भी रागरहित नहीं जाना है और न उसे रागरहित आत्मस्वभाव में एकाग्रता होती है, किन्तु वह राग में भी एकाग्र रहता है। जिसने रागी से भी अपने

को हलका स्वीकार किया है, इसलिए उसे अपन माने हुए देव की अपेक्षा भी निचली दशा (तीव्र राग) होती है। जिसकी पर के और विकार के कर्तृत्व से रहित, पूर्ण ज्ञानमय वीतरागीदशा नहीं हुई है, वैसे आत्मा को जो देवरूप से माने, वह जीव मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि जिसने सर्वज्ञदेव को नहीं जाना, उसने आत्मा का रागरहित ज्ञानस्वभाव कैसा होता है, वह भी नहीं जाना है। सर्वज्ञदेव का स्वरूप क्या है ? उस सर्वज्ञता के साधक संतों की दशा कैसी होती है ? और उन सर्वज्ञदेव तथा संत-गुरुओं की अनेकान्त वाणी में क्या वस्तु स्वरूप कहा है ? उसे प्रथम जाने बिना तो धर्म नहीं होता और उन सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के परलक्ष में ही रुके, वहाँ तक धर्म नहीं होता, परलक्ष से पुण्य की उत्पत्ति होती है। जब वह परलक्ष छोड़कर, उनके कहे हुए अपने शुद्धात्मा का ही आलम्बन करे, तब धर्म होता है। पहले सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति लक्ष, बहुमान आदि होते हैं किन्तु इतना करने में कोई धर्म मान ले तो वैसा नहीं है। प्रथम जिसे धर्म के सच्चे और झूठे निमित्त का (देव-गुरु-शास्त्र का) ही विवेक नहीं है, वह जीव तो निमित्त का लक्ष छोड़कर स्वभाव का लक्ष नहीं कर सकेगा और न उसे धर्म होगा।

7. सत्-असत् निमित्तों का विवेक और ध्रुव उपादान का अवलम्बन

जिसके भाव में सत्-असत् का विवेक जागृत हुआ हो, उसे निमित्त में भी सत्-असत् का विवेक होता ही है। आत्मा के धर्म में कौनसा निमित्त योग्य है और कौनसा अयोग्य है, इसका विवेक नहीं है, उसे तो शुद्ध आत्मा का विवेक होता ही नहीं। मेरे स्वभावधर्म में कौनसा निमित्त अच्छा है और कौनसा बुरा है - ऐसा निश्चित करके कुदेवादि असत् निमित्तों का सेवन तो छोड़ दे, तदुपरान्त सुदेव-गुरु आदि सत् निमित्त या कुदेव-कुगुरु आदि असत् निमित्त - यह सब मेरे आत्मा से परद्रव्य हैं और इन सब परद्रव्यों का लक्ष मुझे अशुद्धता का कारण है - ऐसा निश्चित करके, समस्त परद्रव्यों का अवलम्बन छोड़ने से तथा आत्मस्वभाव का आलम्बन करने से शुद्ध आत्मा की श्रद्धा तथा उसका ध्यान होता है और मोह नष्ट होता है। इसप्रकार मोह के नाश का उपाय ध्रुव आत्मा के आधार से ही होता है। यद्यपि साधक को बीच में शुभराग आये बिना नहीं रहता, किन्तु उस राग के कारण शुद्धता या मोहक्षय नहीं होता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से शुभराग होता है, उससे भी आत्मा के चैतन्यप्राण पीड़ित होते हैं, इसलिए वह राग भी सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है।

किन्तु, 'निमित्त के लक्ष से राग होता है, धर्म नहीं होता' - इस पर से कोई जीव ऐसा उलटा अर्थ लगाये कि अपने को सद्गुरु आदि निमित्त का क्या प्रयोजन है ? ज्ञानी के निमित्त के बिना मैं

अपने आप आत्मा का समझ गया। तो ऐसा कहनेवाला स्वच्छन्दी ही है, क्योंकि स्वयं सत् समझने को तैयार हो, तब सन्मुख भी सद्गुरु आदि सत् निमित्त होते ही हैं। सत् निमित्त के अतिरिक्त दूसरा निमित्त नहीं होता। निमित्त का निमित्तरूप से ज्ञान करना चाहिए, उसके बदले कोई निमित्त का बिलकुल उत्थापन करे तो वह यथार्थ नहीं समझा है और निमित्त का ही आलंबन मानकर रुके तो वह भी स्वभाव को नहीं समझता है।

'पावे नहि गुरुगम विना अेही अनादि स्थित।' – स्वभाव समझनेवाले जीव को सद्गुरु निमित्त होते हैं – यह बतलाने के लिए वह बात सच्ची है और साथ ही दूसरा पक्ष यह भी है कि 'पावे नहिं चेतन विना अेही अनादि स्थित' अर्थात् जो निमित्त का लक्ष छोड़कर चैतन्य स्वभाव की ओर न ढले तो भी आत्मा की सच्ची श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता। इसलिए स्वभावोन्मुख होना ही सर्व का सार है। स्वभावसन्मुख ढलने की पात्रतावाले जिज्ञासु जीव को सत्-असत् निमित्त का विवेक आदि तो सहज होता ही है।

जिसप्रकार टीन का डिब्बा और सन का बोरा दोनों बारदान हैं, तथापि उच्च प्रकार की केशर भरने के लिए सन का बोरा नहीं होता, किन्तु टीन का डिब्बा ही होता है, तथापि केशर उस डिब्बे के आधार से नहीं रहा है। उसीप्रकार सुदेव-सुगुरु और कुदेव-कुगुरु – यह दोनों आत्मा को परद्रव्य होने पर भी, सुदेवादि तो टीन के मजबूत डिब्बे की भांति है और कुदेवादि सन के बोरे के समान हैं। आत्मा का सम्यग्दर्शनरूपी माल भरने के लिए वे कुदेवादि निमित्तरूप नहीं होते, सुदेव-गुरु-शास्त्र ही निमित्तरूप से होते हैं, तथापि आत्मा का धर्म उन देव-गुरु-शास्त्र के आश्रित नहीं है, वे तो बारदान जैसे हैं। वह बारदान स्वयं सम्यक्श्रद्धा नहीं है, किन्तु श्रद्धा उस बारदान के बिना नहीं होती। जिसप्रकार केशर डिब्बे के बिना नहीं रहती, किन्तु डिब्बा स्वयं केशर नहीं है, केशर खत्म हो जाये तो उसके बदले डिब्बा काम में नहीं आता, उसीप्रकार प्रथम सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु उन देव-गुरु-शास्त्र की ओर की उन्मुखता स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है और सम्यग्दर्शन में देव-गुरु-शास्त्र का शुभराग काम नहीं आता, क्योंकि सुदेवादि भी इस आत्मा से परद्रव्य हैं। इसलिए सुदेवादि और कुदेवादि इन सबको आत्मा से भिन्न परद्रव्य जानकर, ध्रुव चैतन्यतत्त्व का आलंबन करने से सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं।

- शेष अगले अंक में

राजकोट दि. जिनमंदिर के संबंध में

राजकोट दि. जैन समाज के प्रत्येक भाई-बहिन को मंदिर में भक्तिपूर्वक भगवान के दर्शन-पूजन करने के संबंध में ट्रस्टियों की ओर से किसी भी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया गया है और न आज भी ऐसा कोई प्रतिबंध विद्यमान है। राजकोट दि. जैन समाज के सभी भाई-बहिन भक्तिपूर्वक दर्शन-पूजन करने को सहर्ष आ सकते हैं। पूजन के समय पूजन की सब सामग्री मंदिर में से हर्षपूर्वक दी जायेगी।

पूज्य श्री कानजी स्वामी दिगंबर जैनधर्म का जो परम सत्य उपदेश रहे हैं, तदनुसार नियत किये गये वक्ता के द्वारा इस जिनमंदिर में स्वाध्याय (प्रवचन) नित्य नियमानुसार होते हैं। उसका लाभ लेने के लिए कभी किसी के ऊपर प्रतिबंध नहीं लगाया गया है और न आज भी कोई प्रतिबंध है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी दिगंबर जैनधर्म का जो परमसत्य उपदेश दे रहे हैं, उससे विपरीत जिसकी मान्यता हो, उसको एवं जो मानादि कषाय की पुष्टि करना चाहता हो, ऐसे व्यक्ति को व अन्य किसी कारण से ट्रस्टियों को योग्य न लगता हो ऐसे किसी व्यक्ति को इस मंदिर में प्रवचनादि कार्य करने की अनुमति ट्रस्टी नहीं दे सकते क्योंकि ट्रस्ट के नियमों का पालन करना ट्रस्टियों का कर्त्तव्य है।

- रामजी माणेकचंद दोशी
प्रमुख : राजकोट-मंदिर ट्रस्ट

...श्रेणिक राजा...

जिसे सम्यग्दर्शन का भान नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन हो किन्तु चारित्रदशा न हो, तथापि श्रेणिक राजा जैसे अनंत एकावतारी गृहस्थादशा में हो गये हैं। यह सम्यग्दर्शन की महिमा है।

श्रेणिक राजा के एक भी व्रत नहीं था, तथापि आत्मा के भान में रहकर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट करके तीर्थंकर नामकर्म – 'जगत गुरु का विरद' बांधा है। इस समय प्रथम नरक में, चौरासी हजार वर्ष की आयु बाँधकर गये हैं, वहाँ वह काल पूर्ण करके, इस भरतक्षेत्र में जन्म लेकर आनेवाली चौबीसी में प्रथम तीर्थंकर-जगद्धोरक होंगे, इन्द्र उनके चरणों की सेवा करेंगे। सम्यग्दर्शन के बिना ऐसे पुण्य का भी बंध नहीं होता।

– समयसार प्रवचन से

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला के

हिन्दी प्रकाशन

परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये जिज्ञासु निम्नलिखित पुस्तकों की स्वाध्याय अवश्य करें!

समयसार -प्रवचन (भाग-1)	6-0-0
समयसार -प्रवचन (भाग-2)	5-0-0
मोक्षमार्गप्रकाशक की किरणें	1-6-0
दशलक्षण-धर्म	0-12-0
सम्यग्दर्शन	2-8-0
भेदविज्ञानसार	2-0-0
मूल में भूल	0-12-0
मुक्ति का मार्ग	0-10-0
आत्मधर्म की फाइलें	3-12-0

उपरोक्त पुस्तकों में 'सम्यग्दर्शन' नाम की पुस्तक अभी प्रगट हुई है, जो प्रत्येक जिज्ञासु को अवश्य पढ़ने योग्य है।

[डाकव्यय अतिरिक्त]

प्राप्तिस्थान —

श्री जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, मोटा आंकडिया (अमरेली)